गीता सन्देश



डॉ. संजय मालपाणी

जीवन में यशस्वी वही सर्वदा
स्वयं से संतुष्ट रहे जो सदा !!

अर्जुन ने श्रीकृष्ण को स्थितप्रज्ञ व्यक्ति को कैसे पहचानें यह प्रश्न पूछा और भगवान् ने 18 श्लोकों में यह व्याख्या समझायी। जिसमें पहले ही श्लोक में भगवान् ने कहा-

प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते॥

अर्थात् सभी कामनाओं को त्यागकर जब व्यक्ति स्वयं से स्वयं संतुष्ट रहता है तब वह स्थितप्रज्ञ कहलाता है। हमारी संतुष्टि सदैव बाहरी बातों पर निर्भर करती है। मुझे यह सुख मिले तब मैं संतुष्ट बन जाऊँगा, मुझे यह बिषय मिल जाए, यह मेरे साथ ऐसा व्यवहार करे, मुझे मान सम्मान प्राप्त हो, वह मुझे यह वस्तु दे, मुझे जीवन में यह पद अथवा वह प्रतिष्ठा मिल जाए तब मैं संतुष्ट हो जाउँगा आदि... ये सारी बाहरी बातें हैं और क्षणभंगुर भी हैं। जो आप से आज अच्छा व्यवहार करे वह कल बुरा व्यवहार भी कर सकता हैं, आज मिला हुआ विषय कल पुराना होकर कालबाह्य होना ही हैं। पद और प्रतिष्ठा की अपनी कालमर्यादा हैं। यह सारी कामनाएँ सुख की हैं। सुख का अंतिम छोर दुःख ही होता है। अतः सुख की प्राप्ति से संतुष्टि अर्थात् शाश्वत आनंद की अनुभूति नही हो सकती। अनपेक्ष याने निरपेक्षता अर्थात् अपेक्षाओं का त्याग ही संतुष्टि का एक मात्र मार्ग है। कर्मयोग से इस मार्ग पर पहुँचा जा सकता हैं। केवल कर्म अपेक्षाओं को जन्म देता है। मैंने यह काम किया अब मुझे इससे यह लाभ होना चाहिए यह वृत्ति अपेक्षाओं की जन्मदात्री हैं। मैने कर्तव्य भावना से काम कर दिया, फल की अपेक्षा से नहीं किया, ऐसी मानसिकता कर्मयोग कहलाती है। 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' इस श्लोक का अर्थ है कि हम कर्म करते रहें परंतु फल की अपेक्षा ना करे। इस का यह अर्थ यह नहीं है कि आपको अपने कर्म का फल नहीं मिलेगा। कर्मानुरुप फल तो मिलेगा ही... बस अपेक्षा ना करे इतना ही पर्याप्त है। बिना अपेक्षा के कुछ भी मिल जाए तो मन प्रसन्न हो जाता है। परंतु यदि अपेक्षा के अनुकूल नहीं मिलता है तो मन खट्टा हो जाता हैं। ऐसी अवस्था में मन किसी काम में एकाग्र नहीं हो सकता। मन यदि स्थिर चित्त नहीं है तो फिर बुद्धि भी अस्थिर हो जाती है। इसीलिए भगवान् कहते हैं कि यदि प्रज्ञा प्रतिष्ठित करनी है तो अपेक्षा

से बाहर निकल जाओ। जब मन और बुद्धि स्थिर होगी तो अपने आप हमारी कार्यकुशलता बढ़ती है और निर्णय भी सही होते हैं। आगे भगवान् बताते हैं कि हम स्वयं से प्रसन्न रहना सीखें तो प्रज्ञा प्रतिष्ठित होगी। जब कोई कार्य निःस्वार्थ निरपेक्ष भाव से होता है तब हमें अपरिमित संतोष की अनुभूति होती हैं। इसी को कर्मयोग कहते हैं। हमारे दैनंदिन जीवन में प्रतिदिन कम से कम एक कार्य हमें सर्वजन हितार्थ करने से इस संतुष्टि का अनुभव होता है। गीता परिवार के गीता संथा कक्षा कार्य से जुड़े अनगिनत स्वयंसेवी सदस्य इस निरपेक्ष सेवा का आनंद लेकर संतुष्ट हो रहे हैं। इसी अनुभूति के कारण अन्य कामों को भी वे कुशलता से करते हैं। व्यक्तिगत, पारिवारिक, व्यावसायिक तथा सामाजिक कार्य में भी उनकी स्थिर मति के कारण उन्हें सफलता प्राप्त होती हैं। सफलता के लिए आत्मसंतुष्टि और आत्मसंतुष्टि के लिए कर्मयोग यही जीवन को सफल और सुंदर बनाने का गीता मार्ग हैं।

गीता भावगीत

तप्त मन जब शुष्क हो , हरि नाम का संस्मरण हो।
भाव जब निष्पर्ण हो तब, भक्ति का अंकुरण हो॥
शत्रुता मन में घिरे जब, मैत्री मंगल स्मरण हो।
धर्म का विस्मरण हो तब , कृष्ण का अवतरण हो॥
क्रोध की ज्वाला जले जब, सजगता से तरण हो।
मोह का आवरण हो तब , पार्थ सा जागरण हो॥
अभय से अंतर जगे जो, भयक्रांत मन संकीर्ण हो।
अज्ञान का जब तम घनेरा, ज्ञान रवि अवतीर्ण हो॥
जब कामना का ज्वर उठे, और लोभ का अभिसरण हो।
संयमन का ले सहारा, शुद्ध अंतःकरण हो॥
मृत्यु जब नर्तन करे, अमृत सुधा का वरण हो।
दंभ दानव घेर ले तब, दिव्य दैवी शरण हो॥
अभिमान का विष दंश हो तब, हृदय में श्री चरण हो।
मन करे सुमिरन सदा, और दर्प का संहरण हो॥
असत् की अवधारणा पर, सत्य का अवतरण हो।
तमस् के वातावरण में, ज्योति रश्मि किरण हो॥